।।ॐ श्री परमात्मने नमः।।

अथ षोडशोऽध्यायः

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के प्रश्न प्रस्तुत करने की अपनी विशिष्ट शैली है। पहले वे प्रकरण की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, जिससे पुरुष उसकी ओर आकर्षित हो, तत्पश्चात् वे उस प्रकरण को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए कर्म को लें। उन्होंने दूसरे अध्याय में ही प्रेरणा दी कि, अर्जुन! कर्म कर। तीसरे अध्याय में उन्होंने इंगित किया कि निर्धारित कर्म कर। निर्धारित कर्म है क्या? तो बताया यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। फिर उन्होंने यज्ञ का स्वरूप न बताकर पहले बताया कि यज्ञ आया कहाँ से और देता क्या है? चौथे अध्याय में तेरह-चौदह विधियों से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट किया, जिसको करना कर्म है। यहाँ कर्म स्पष्ट होता है, जिसका शुद्ध अर्थ है योग-चिन्तन, आराधना, जो मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होता है।

इसी प्रकार उन्होंने अध्याय नौ में दैवी और आसुरी सम्पद् का नाम लिया। उसकी विशेषताओं पर बल दिया कि, अर्जुन! आसुरी स्वभाववाले मुझे तुच्छ कहकर पुकारते हैं। हूँ तो मैं भी मनुष्य शरीर के आधारवाला क्योंकि मनुष्य शरीर में ही मुझे यह स्थिति मिली है; किन्तु आसुरी स्वभाववाले, मूढ़ स्वभाववाले मुझे नहीं भजते, जबकि दैवी सम्पद् से युक्त भक्तजन अनन्य श्रद्धा से मुझे उपासते हैं। किन्तु इन सम्पत्तियों का स्वरूप, उनका गठन अभी तक नहीं बताया गया। अब अध्याय सोलह में योगेश्वर उनका स्वरूप स्पष्ट करने जा रहे हैं, जिनमें प्रस्तुत है पहले दैवी सम्पद् के लक्षण-

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।।१।।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की शुद्धता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में दृढ़ स्थिति अथवा निरन्तर लगन, सर्वस्व का समर्पण, इन्द्रियों का भली प्रकार दमन, यज्ञ का आचरण (जैसा स्वयं श्रीकृष्ण ने अध्याय चार में बताया है - संयमाग्नि में हवन, इन्द्रियाग्नि में हवन, प्राण-अपान में हवन और अन्त में ज्ञानाग्नि में हवन अर्थात् आराधना की प्रक्रिया, जो केवल मन और इन्द्रियों की अन्तःर्क्रिया से सम्पन्न होती है। तिल, जौ, वेदी इत्यादि सामग्रियों से होनेवाले यज्ञ का इस गीतोक्त यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्ण ने ऐसे किसी कर्मकाण्ड को यज्ञ नहीं माना।), स्वाध्याय अर्थात् स्व-स्वरूप की ओर अग्रसर करानेवाला अध्ययन, तप अर्थात् मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप ढालना तथा '**आर्जवम्**'- शरीर और इन्द्रियों सहित अन्तःकरण की सरलता-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा अर्थात् आत्मा का उद्धार (आत्मा को अधोगति में पहुँचाना ही हिंसा है। श्रीकृष्ण कहते हैं - यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो इन सम्पूर्ण प्रजा का हनन करनेवाला और वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा, उसका प्रकृति में भटकना वर्णसंकर है, आत्मा की हिंसा है और आत्मा का उद्धार ही अहिंसा है।), सत्य (सत्य का अर्थ यथार्थ और प्रिय भाषण नहीं है। आप कहते हैं, यह वस्त्र हमारा है, तो क्या आप सच बोलते हैं? इससे बड़ा झूठ और क्या होगा? जब शरीर आपका नहीं है, नश्वर है तो इसे ढाँकने का वस्त्र कब आपका है? वस्तुतः सत्य का स्वरूप योगेश्वर ने स्वयं बताया है कि, अर्जुन! सत्य वस्तु का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। यह आत्मा ही सत्य है, यही परमसत्य है - इस सत्य पर दृष्टि रखना।), क्रोध का न होना, सर्वस्व का समर्पण, शुभाशुभ कर्मफलों का त्याग, चित्त की चंचलता का सर्वथा अभाव, लक्ष्य के विपरीत निन्दित कार्यों को न करना, सम्पूर्ण प्राणियों में दयाभाव, इन्द्रियों का विषयों से संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का अभाव, कोमलता, अपने लक्ष्य से विमुख होने में लज्जा, व्यर्थ की चेष्टाओं का अभाव तथा-

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

तेज (जो एकमात्र ईश्वर में है, उसके तेज से जो कार्य करता है। महात्मा बुद्ध की दृष्टि पड़ते ही अंगुलिमाल के विचार बदल गये, यह उस तेज का ही परिणाम था, जिससे कल्याण का सृजन होता है, जो बुद्ध में था), क्षमा, धैर्य, शुद्धि, किसी में शत्रुभाव का न होना, अपने में पूज्यता के भाव का सर्वथा अभाव - यह सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पद् को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। इस प्रकार कुल छब्बीस लक्षण बताये, जो सब-के-सब तो साधना में परिपक्व अवस्थावाले पुरुष में सम्भव हैं और आंशिक रूप में आप में भी निश्चित हैं तथा आसुरी सम्पद् से आप्लावित मनुष्यों में भी ये गुण हैं किन्तु प्रसुप्त रहते हैं, तभी तो घोर पापी को भी कल्याण का अधिकार है। अब आसुरी सम्पद् के प्रमुख लक्षण बताते हैं-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

हे पार्थ! पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान - यह सब आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। दोनों सम्पदाओं का कार्य क्या है?-

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

इन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में से दैवी सम्पद् तो **'विमोक्षाय'**- विशेष मोक्ष के लिए है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी गयी है। हे अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है। विशेष मुक्ति को प्राप्त होगा अर्थात् मुझे प्राप्त होगा। वे सम्पदायें रहती कहाँ हैं?-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

हे अर्जुन! इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं - देवों के जैसा और असुरों के जैसा। जब हृदय में दैवी सम्पद् कार्यरूप ले लेती है तो मनुष्य ही देवता है और जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य हो तो मनुष्य ही असुर है। सृष्टि में ये दो ही जातियाँ हैं। वह चाहे अरब में पैदा हुआ है, चाहे आस्ट्रेलिया में; कहीं भी पैदा हुआ हो, बशर्ते है इन दो में से ही। अभी तक देवों का स्वभाव ही विस्तार से कहा गया, अब असुरों के स्वभाव को मुझसे

विस्तारपूर्वक सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

हे अर्जुन! असुर लोग 'कार्यम् कर्म' में प्रवृत्त होने और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होना भी नहीं जानते। इसलिये उनमें न शुद्धि रहती है, न आचरण और न सत्य ही रहता है। उन पुरुषों के विचार कैसे होते हैं?-

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित है, सर्वथा झूठा है और बिना ईश्वर के, अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिये केवल भोगों को भोगने के लिये है, इसके सिवाय और क्या है?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

इस मिथ्या दृष्टिकोण के अवलम्बन से जिनका स्वभाव नष्ट हो चुका है वे मन्दबुद्धि, अपकारी, क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिये ही उत्पन्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी भी प्रकार पूर्ण न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके अशुभ तथा भ्रष्ट व्रतों से युक्त हुए संसार में बरतते हैं। वे व्रत भी करते हैं; किन्तु भ्रष्ट हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

वे अन्तिम श्वास तक अनन्त चिन्ताओं को लिये रहते हैं और विषयों को भोगने में तत्पर वे 'बस इतना ही आनन्द है' - ऐसा मानते हैं। उनकी मान्यता रहती है कि जितना हो सके भोग संग्रह करो, इसके आगे कुछ नहीं है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

आशारूपी सैकड़ों फाँसियों से (एक फाँसी से ही लोग मर जाते हैं, यहाँ सैकड़ों फाँसियों से) बँधे हुए काम-क्रोध के परायण विषय-भोगों की पूर्ति के लिए वे अन्यायपूर्वक धनादि बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। अतः धन के लिए वे रात-दिन असामाजिक कदम उठाया करते हैं। आगे कहते हैं-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

वे सोचते हैं कि मैंने आज यह पाया है, इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा। मेरे पास इतना धन है और फिर कभी इतना हो जायेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ही ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ। मैं ही सिद्धियों से युक्त, बलवान् और सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मुझे हर्ष होगा - इस प्रकार के अज्ञान से वे विशेष मोहित रहते हैं। क्या यज्ञ, दान भी अज्ञान है? इस पर श्लोक १७ में स्पष्ट किया है। इतने पर भी वे नहीं रुकते बल्कि अनेक भ्रान्तियों के शिकार रहते हैं। इस पर कहते हैं-

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्तवाले, मोह-जाल में फँसे हुए, विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त वे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं। आगे श्रीकृष्ण स्वयं बतायेंगे कि नरक क्या है?

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले, धन और मान के मद से युक्त होकर वे घमण्डी मनुष्य शास्त्रविधि से रहित केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से यजन करते हैं। क्या वही यज्ञ करते हैं, जैसा श्रीकृष्ण ने बताया है?

नहीं, उस विधि को छोड़कर करते हैं; क्योंकि विधि योगेश्वर ने स्वयं बतायी है। (अध्याय ४/२४-३३ तथा अध्याय ६/१०-१७)

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

वे दूसरों की निन्दा करनेवाले अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध के परायण हुए पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। शास्त्रविधि से परमात्मा का सुमिरन एक यज्ञ है। जो इस विधि को त्यागकर नाममात्र का यज्ञ करते हैं, यज्ञ के नाम पर कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, वे अपने और दूसरे के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। लोग द्वेष करते ही रहते हैं और बच भी जाते हैं। क्या ये भी बच जायेंगे? इस पर कहते हैं - नहीं,

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

मुझसे द्वेष करनेवाले उन पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। जो शास्त्रविधि को त्यागकर यजन करते हैं वे पापयोनि हैं, वही मनुष्यों में अधम हैं, इन्हीं को क्रूरकर्मी कहा गया। अन्य कोई अधम नहीं है। पीछे कहा था, ऐसे अधमों को मैं नरक में गिराता हूँ। उसी को यहाँ कहते हैं कि उन्हें अजस्र आसुरी योनियों में गिराता हूँ। यही नरक है। साधारण जेल की यातना भयंकर होती है और यहाँ अनवरत आसुरी योनियों में गिरने का क्रम कितना दुःखद है। अतः दैवी सम्पद् के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

कौन्तेय! मूर्ख मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों तक आसुरी योनि को प्राप्त हुए मुझे न प्राप्त होकर पहले से भी अति नीच गति को प्राप्त होते हैं, जिसका नाम नरक है। अब देखें, नरक का उद्गम क्या है?-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के मूल द्वार हैं। ये आत्मा का नाश करनेवाले, उसे अधोगति में ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये। इन्हीं तीनों पर आसुरी सम्पद् टिकी हुई है। इन्हें त्यागने से लाभ?-

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय! नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने परमकल्याण के लिये आचरण कर पाता है, जिससे वह परमगति अर्थात् मेरे को प्राप्त होता है। इन तीनों विकारों को त्यागने पर ही मनुष्य नियत कर्म करता है, जिसका परिणाम परमश्रेय है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो पुरुष उपर्युक्त शास्त्रविधि को त्यागकर (वह शास्त्र कोई अन्य नहीं **'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' (१५/२०)** गीता स्वयं पूर्ण शास्त्र है, जिसे स्वयं श्रीकृष्ण ने बताया है, उस विधि को त्यागकर) अपनी इच्छा से बरतता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही प्राप्त होता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

इसलिये अर्जुन! तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में कि मैं क्या करूँ, क्या न करूँ- इसकी व्यवस्था में शास्त्र ही एक प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधि से नियत किये हुए कर्म को ही तुझे करना योग्य है।

अध्याय तीन में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने **'नियतं कुरु कर्म त्वं'**- नियत कर्म पर बल दिया और बताया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही वह नियत कर्म है और वह यज्ञ आराधना की विधि-विशेष का चित्रण है, जो मन का सर्वथा निरोध करके शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश दिलाता है। यहाँ उन्होंने बताया कि काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन प्रमुख द्वार हैं। इन तीनों को त्याग

देने पर ही उस कर्म का (नियत कर्म का) आरम्भ होता है, जिसे मैंने बार-बार कहा, जो परमश्रेय-परमकल्याण दिलानेवाला आचरण है। बाहर सांसारिक कार्यों में जो जितना व्यस्त है, उतना ही अधिक काम, क्रोध और लोभ उसके पास सजा-सजाया मिलता है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है कि काम, क्रोध और लोभ को त्याग देने पर ही उसमें प्रवेश मिलता है, कर्म आचरण में ढल पाता है। जो उस विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से आचरण करता है, उसके लिए सुख-सिद्धि अथवा परमगति कुछ भी नहीं है। अब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। अतः शास्त्रविधि के ही अनुसार तुझे कर्म करना उचित है और वह शास्त्र है 'गीता'।

निष्कर्ष–

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पद् का विस्तार से वर्णन किया। जिसमें ध्यान में स्थिति, सर्वस्व का समर्पण, अन्तःकरण की शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, स्वरूप को स्मरण दिलानेवाला अध्ययन, यज्ञ के लिये प्रयत्न, मनसहित इन्द्रियों को तपाना, अक्रोध, चित्त का शान्त प्रवाहित रहना इत्यादि छब्बीस लक्षण बताये, जो सब-के-सब तो इष्ट के समीप पहुँचे हुए योग-साधना में प्रवृत्त किसी साधक में सम्भव हैं। आंशिक रूप से सब में हैं।

तदनन्तर उन्होंने आसुरी सम्पद् में प्रधान चार-छः विकारों का नाम लिया; जैसे-अभिमान, दम्भ, कठोरता, अज्ञान इत्यादि और अन्त में निर्णय दिया कि अर्जुन! दैवी सम्पद् तो **'विमोक्षाय'**-पूर्ण निवृत्ति के लिये है, परमपद की प्राप्ति के लिये है और आसुरी सम्पद् बन्धन और अधोगति के लिये है। अर्जुन! तू शोक न कर; क्योंकि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है।

ये सम्पदाएँ होती कहाँ हैं? उन्होंने बताया कि इस लोक में मनुष्यों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं - देवताओं जैसा और असुरों जैसा। जब दैवी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो मनुष्य देवताओं जैसा होता है और जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो मनुष्य असुरों जैसा है। सृष्टि में बस मनुष्यों की दो ही जाति हैं; चाहे वह कहीं पैदा हुआ हो, कुछ भी कहलाता हो।

तत्पश्चात् उन्होंने आसुरी स्वभाववाले मनुष्यों के लक्षणों का विस्तार से उल्लेख किया। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त होना नहीं जानता और अकर्त्तव्य कार्य से निवृत्त होना नहीं जानता। वह कर्म में जब प्रवृत्त ही नहीं हुआ तो न उसमें सत्य होता है, न शुद्धि और न आचरण ही होता है। उसके विचार में जगत् आश्रयरहित, बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल भोग भोगने के लिए है। इससे आगे क्या है?- यह विचार कृष्णकाल में भी था। सदैव रहा है। केवल चार्वाक ने कहा हो, ऐसी बात नहीं है। जब तक जनमानस में दैवी-आसुरी सम्पद् का उतार-चढ़ाव है तब तक रहेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं, वे मन्दबुद्धिवाले पुरुष सबका अहित (कल्याण का नाश) करने के लिये ही जगत् में पैदा होते हैं। वे कहते हैं - मेरे द्वारा यह शत्रु मारा गया, उसे मारूँगा। इस प्रकार अर्जुन! काम-क्रोध के आश्रित वे पुरुष शत्रुओं को नहीं मारते बल्कि अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। तो क्या अर्जुन ने प्रण करके जयद्रथादि को मारा? यदि मारता है तो आसुरी सम्पद्वाला है, उन परमात्मा से द्वेष करनेवाला है; जबकि अर्जुन को श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, शोक मत कर। यहाँ भी स्पष्ट हुआ कि ईश्वर का निवास सबके हृदय-देश में है। स्मरण रखना चाहिए कि कोई तुम्हें सतत देख रहा है। अतः सदैव शास्त्रनिर्दिष्ट क्रिया का ही आचरण करना चाहिए अन्यथा दण्ड प्रस्तुत है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पुनः कहा कि आसुरी स्वभाववाले क्रूर मनुष्यों को मैं बारम्बार नरक में गिराता हूँ। नरक का स्वरूप क्या है? तो बताया, बारम्बार नीच-अधम योनियों में गिरना एक दूसरे का पर्याय है। यही नरक का स्वरूप है। काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन मूल द्वार हैं। इन तीनों पर ही आसुरी सम्पद् टिकी हुई है। इन तीनों को त्याग देने पर ही उस कर्म का आरंभ होता है, जिसे मैंने बार-बार बताया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जिसका आरम्भ काम, क्रोध और लोभ को त्याग देने पर ही होता है।

सांसारिक कार्यों में, मर्यादित ढंग से सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्वाह करने में भी जो जितने व्यस्त हैं काम, क्रोध, लोभ उनके पास उतने अधिक

सजे-सजाये मिलते हैं। वस्तुतः इन तीनों को त्याग देने पर ही परम में प्रवेश दिलानेवाले निर्धारित कर्म में प्रवेश मिलता है। इसलिये मैं क्या करूँ, क्या न करूँ?- इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। कौन-सा शास्त्र? यही गीता शास्त्र; **'किमन्यै शास्त्रविस्तरैः।'** इसलिये इस शास्त्र द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म-विशेष (यज्ञार्थ कर्म) को ही तू कर।

इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओं का विस्तार से वर्णन किया। उनका स्थान मानव-हृदय बताया। उनका फल बताया। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽ-ध्यायः।।१६।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद में 'दैवासुर सम्पद् विभाग योग' नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।